दिल्ली गेट

यशोदा

दिल्ली गेट, जो दिल्ली की जानी–मानी जगहों में से एक है। जहाँ ट्रैफ़िक और लोगों की धूम रहती है। यहाँ पर दो सड़कों को जुदा करता हुआ ये कबूतरख़ाना बना हुआ है। इसने अपनी पहचान उन लोगों के ज़रिये बनाई है जो व्यस्त ज़िन्दगी में फंसे हुए भी कुछ नेकी कमाना चाहते हैं। आज जब मैं इधर से गुज़री तो मुझे एक अनोखा ही रिश्ता नज़र आया यहाँ से जुड़े लोगों का, जो मैंने पहले नहीं देखा था।

मैं घर से नहाकर निकली थी। इसलिए हल्की–हल्की ठंड महसूस हो रही थी। और यहाँ पर धूप बहुत अच्छी लग रही थी। ठंड के मद्देनज़र मैं यहाँ पर बनी चौड़ी मुंडेरी, जो दीवारनुमा थी, उस पर जा बैठी।

इतना शोर होने के बावजूद भी इस जगह पर एक अनजाना–सा सुकून मेरे अन्दर उतर रहा था। मैं ख़ामोशी से नज़रें घुमाकर इस जगह का मुआयना कर रही थी। मुझे अपने सामने इमरजेन्सी नज़र आ रही थी, जहाँ पर बहुत सारे फलों की रेहड़ियाँ लगी हुई थीं। मरीज़ों की आवाजाही में तंदरुस्त लोगों का टोला भी इधर से उधर गुज़र रहा था। मेरे पीछे बड़ी–बड़ी कंपनियों की बिल्डिंग हैं, जहाँ पर धूप सीधी पड़ने की वजह से उनके नाम साफ़ नज़र आ रहे थे।

इन सड़कों पर से गुज़रते हुए लोगों का रेला कभी ख़त्म नहीं होता। मुझे इधर से उधर गुज़रती हुई भीड़ को देखकर एक साथी याद आने लगा, जिसने कभी सवाल किया था, "अगर हम भीड़ में खड़े हो जाएँ, तो उस भीड़ की नज़रें हम से क्या कहेंगी? हटो, रास्ता छोड़ो?"

ये सवाल मेरे दिमाग़ में बार–बार हथौड़े मारने लगा। मैं सवालों के दबाव में आकर अपने सामने वाली सड़क पर चल रहे लोगों को ध्यान से देखने लगी। उन में मुझे एक औरत नज़र आई, जिसका चेहरा काफ़ी पक्का और साँवला था। वो सड़क पार करके मेरी तरफ़ ही आ रही थी, और उसके सामने से चार–पाँच आदमी गुज़र रहे थे। मैं

सिर्फ़ उस औरत का ही चेहरा देख पा रही थी। उन आदमियों पर नहीं, मेरी नज़र उस औरत की ही नज़रों पर जमी हुई थी, कि वो इन लोगों के बीच से निकलते समय कैसे रियेक्ट करती है। लेकिन सिर्फ़ उसकी आँखें ही रियेक्ट नहीं कर रहीं थीं, बल्कि उसके चेहरे के भाव भी बदलने लगे थे। जो चेहरा काफ़ी नॉरमल नज़र आ रहा था, अब हल्की–सी तमतमाहट में था। उसके हाथ भी अपने दुपट्टे को सही करते हुए अपने ही जिस्म पर खेल रहे थे। उसकी आँखें उन लोगों की, और मेरी, उसकी तरफ़ उठी हुईं थीं। उसकी आँखों में जल्दी–से निकलने की तेज़ी नज़र आ रही थी। वो एक सेकण्ड में उन लोगों के बीच से निकल गई। लेकिन उस एक सेकण्ड में उसके चेहरे ने न जाने कितनी ही क्रियाएँ कर डाली थीं।

वो मेरे पास से चलती हुई निकल गई। लेकिन मुझे ये पता नहीं चला कि उन लोगों की नज़रें उससे क्या कह रही होंगीं? मुझे अभी तक सवाल का जवाब नहीं मिला था। मुझे अपने दिमाग़ में थकान महसूस होने लगी थी, और मैं सामने दाना खाते हुए कबूतरों को देखने लगी।

मैंने फ़ैसला कर लिया कि मैं अब इस सवाल को मुड़कर नहीं देखूँगी। मैं कबूतरों को बड़े ही प्यार से देख रही थी। और एक बुज़ुर्ग आदमी को भी, जिसका क़द छोटा था। वो कुर्त्ता–पजामा पहने हुए था, पैरों में प्लास्टिक के जूते थे जो काफ़ी घिस चुके थे, बाल पके हुए, रंग धूप में जला हुआ लग रहा था। नाक–नक़्शा ठीक ही था। वो आदमी कबूतरों के पीने के लिए मिट्टी के कुण्डों में पानी भर रहा था। वो कुण्डे आधे पानी से भरे हुए थे। आधे खाली होने की वजह से वो ऊपर की तरफ़ को सूख रहे थे। जब वो आदमी कूँड़ों में पानी डालता, तो मिट्टी की सोंधी–सोंधी ख़ुशबू मेरे अन्दर से होकर गुज़र जाती। ये बहुत ही ख़ूबसूरत मंज़र था, और इस मन्ज़र के चारों तरफ़ मुलायम अहसासों का जाल बिछा हुआ था।

इन अहसासों में किसी के लिए कोई जगह नहीं थी – न दोस्तों के लिए, न अपनों के लिए, न परायों के लिए, और न ही अतीत के लिए। आज मैंने इतने सालों में पहली बार कुछ लम्हों के लिए अतीत से निजात पाई थी। मुझे नहीं पता कि ये कौन–सा सुकून था जो मेरे अन्दर से रोशनी की तरह निकलता हुआ बाहर तक फैल रहा था। मेरी इन कबूतरों और इस आदमी से नज़र नहीं हट रही थी। वो आदमी बार–बार

कबूतरों के बीच में जाकर कूँड़ों में पानी डालता और दोनों को झाड़ू से एक तरफ़ इकट्ठा करने लगता। वो कबूतरों के बिलकुल नज़दीक था, लेकिन कबूतर उससे डर नहीं रहे थे। क्योंकि कबूतरों और उस आदमी के बीच दोनों की ही समझ बह रही थी, जिससे जुड़ाव का लॉक लगा हुआ था।

वो आदमी अपना काम ख़त्म करके बाजरे वाले के पास जाकर बैठ गया। मैं भी चलने के लिए उठने लगी। तभी मुझे एक कबूतर नज़र आया जो दाने के लिए दूसरे कबूतर को चोंच मार रहा था। उसके पास काफ़ी दाना बिखरा हुआ था, तब भी वो दूसरे कबूतर की चोंच में से दाना खींचने की कोशिश कर रहा था। ये देखते ही मेरी दृष्टि उन कबूतरों पर और गहरी हो गई और दिमाग़ में कई शब्द घूमने लगे। इसी बीच पीछे से "पीं–पीं" स्कूटर की तेज़ आवाज़ ने मेरा दृष्टिकोण तोड़ दिया।

मैंने अपनी गर्दन पीछे घुमाई तो देखा मेरे पीछे एक कम–उम्र का लड़का था। उस ने काली पैन्ट और पैरेट कलर की टी–शर्ट पहनी थी, रंग साफ़ था और आँखें डार्क ब्राउन थीं। वो मेरी तरफ़ ही देख रहा था। मैंने एक फीकी–सी नज़र उस पर डालते हुए अपनी गर्दन घुमा ली और घड़ी में टाइम देखने लगी। अभी साढ़े ग्यारह ही बजे थे। तभी मेरे पीछे से फिर "पीं–पीं" की आवाज़ आने लगी। बालों पर हाथ फेरते हुए मैंने दोबारा मुड़कर देखा तो वही लड़का दूर खड़ा मुझे ही देख रहा था। मैंने उसे ग़ौर से देखा। मेरी आँखों में गुस्सा था, लेकिन उसकी आँखों से शरारत झलक रही थी। दो मिनट वो मुझे देखता रहा, फिर मुस्कुराता हुआ आगे निकल गया।

मैं गर्दन घुमाकर अपने नाख़ूनों को देखने लगी और सोचने लगी, "मेरे साथ ऐसे कितने ही हादसे हो जाते हैं जो काफ़ी समय तक याद रह जाते हैं। फिर मैं अपने दिमाग़ के ढाँचे में झाँकने की बजाय इधर–उधर से दाना चुगने की क्यों कोशिश कर रही हूँ? जब मैं बाज़ार की भीड़, बस की भीड़ और रास्ते की भीड़ से गुज़रती हूँ, तो कितनी ही नज़रें मेरी नज़रों से टकराती हैं। भीड़ की उन नज़रों में कहीं तो हवस नज़र आती है, कहीं जल्दी से निकलने की मजबूरी, कहीं शर्मीलापन, कहीं परेशानी की लकीरें, तो कहीं सिर्फ़ खालीपन, जिससे लगता है उन्हें अपने साथ–साथ किसी में कोई दिलचस्पी नहीं।

भीड़ की नज़रें हम सें सिर्फ़ यही नहीं कहतीं कि "हटो, रास्ता छोड़ो"। क्योंकि उस में एक सोच के इंसान नहीं चलते। उस में अलग–अलग केटेगरी के लोग होते हैं। जिस तरह हमेशा मेरी नज़रों में सिर्फ़ जल्दी से निकलने की मजबूरी नहीं होती, उसी तरह उस भीड़ में हमेशा गुंडे, भाई और दोस्त ही नज़र नहीं आते। ये तो अपने–अपने मूड पर डिपैंड करता है, क्योंकि हमारे मूड की वजह से ही हमारी आँखों में बदलाव आता है।

ये तो हुई भीड़ की नज़रें, जो हम से अनजानी हैं और अपने मूड पर डिपैंड करती हैं। लेकिन उन नज़रों का क्या किया जाए जिन्हें हम जानते हैं, जो हमारे लिए अनजानी नहीं हैं। कभी–कभी वो नज़रें हमें कुछ और ही अहसास करा जाती हैं। तब लगता है, जिन नज़रों को हम जानते हैं, वो तो ये नहीं हैं। फिर ये कौन–सी नज़रें हैं जिनसे हम अनजान हैं? ये नज़रों का बदलाव ठीक–ठाक चलती ज़िन्दगी में घुटन पैदा करता है। वो घुटन, जिसे अगर हम किसी को बताना भी चाहें, तो शायद न बता पाएँ। आख़िर बताएँ भी तो क्या बताएँ? जिसे हम ख़ुद नहीं समझ सकते, वो किसी को क्या समझाएँ? क्योंकि नज़रों की अदालत में गवाह नहीं हुआ करते।

बस का सफ़र

नसरीन

बस में सफ़र तो मैंने बहुत किया है। पर इतनी दूर का सफ़र कभी नहीं किया जहाँ हमारी अम्मी का मायका है। ये तीन या चार साल पहले की बात है। हम ने लोनी की बस पकड़ी, वो भी बस अड्डे से। पहले लोनी बहुत कम बसें जाती थीं। हम लोग बस में बैठे थे। बस बहुत भरी हुई थी। गर्मी बहुत थी और मेरे बड़े भाई गेट पर खड़े थे। बस झटके ले लेकर चल रही थी। बस में चढ़ने की बिलकुल जगह नहीं थी। जब बस मुड़ती, मुझे ऐसा लगता मानो बस अभी गिर रही हो। मुझे डर लग रहा था उस बस से।

बस रुकी। उस बस में काफ़ी लोग चढ़ना चाहते थे पर बस इतनी भरी हुई थी कि बस–वाले ने बस रोकी और फट से तेज़ रफ़्तार में चला दी। एक आदमी बस में चढ़ना चाहता था। उसने बस का हैंडल पकड़ रखा था। बस की सीढ़ी पर उसने पैर रखना चाहा। अफ़सोस, उसका पैर सीढ़ी पर नहीं पड़ा, उसका पैर फिसल गया और उसका हाथ भी छूट गया, और वह आदमी ज़मीन पर गिर पड़ा। बस–वाला बस चलाता रहा। जब उस आदमी के ज़मीन पर गिरने की आवाज़ आई तो सभी लोग बस–वाले पर चिल्लाने लगे। लेकिन उसने बस तब भी नहीं रोकी।

पीछे से एक आदमी ने बस–वाले का कॉलर पकड़ा और उससे कहा, "तू बस चलाने में मशग़ूल है, पता है पीछे आदमी गिर गया है?" ये बात सुनकर बस–वाले ने बस रोकी और सभी उस आदमी को देखने चले गए। उस आदमी को देखने मेरे भाई भी गए। जब लोगों ने वहाँ जाकर देखा, तो वहाँ वो आदमी मरा हुआ पड़ा था। उस आदमी का गिरते ही सिर फूट गया और वो गिरते ही मर चुका था।

हम सब बस से उतर कर अपने भाई को देखने लगे। अम्मी सोच रहीं थीं, "बस क्यों रुक गई? वैसे ही काफ़ी देर हो गई। लोनी पहुँच कर वापस घर भी आना है"। थोड़ी देर बाद हमारे भाई आते हुए नज़र आए। अम्मी ने भाई से पूछा, "क्या हुआ?" उन्होंने बताया, "वो आदमी बस में चढ़ रहा था और वो गिरते ही मर गया"। भाई हमें उस आदमी की लाश दिखाने ले गए। हमने वहाँ जाकर देखा कि वहाँ वो आदमी मरा हुआ, मुँह के बल पड़ा था, और उसके सिर से काफ़ी ख़ून बह रहा था।

थोड़ी देर बाद पुलिस आ गई और सभी लोगों को भगाने लगी। बस–वाला तो गाड़ी छोड़ कर भाग गया था। पुलिस के हाथ सिर्फ़ गाड़ी ही लगी। उस बेचारे ग़रीब का कुछ पता न चल सका। मैं ये सोचती रही कि उस आदमी का क्या होगा? पता नहीं उसके घरवालों को पता चलेगा भी या नहीं। अगर उसके घर वालों को पता चलेगा तो उसके घर में ख़ूब रोना–पिटना मचेगा। मुझे ये बेचैनी थी कि किसी तरह से मुझे पता चल जाए कि वो कहाँ रहता है। मैं उसके घरवालों को बता दूँगी कि...! इतने में हमारी दूसरी बस आ गई और हम बस में बैठ कर अपनी जगह पर पहुँच गए। जब हम जगह देख कर घर पहुँचे, तब भी मेरे दिमाग़ से उस आदमी के साथ हुआ हादसा नहीं गया। और शायद वो हादसा मेरे दिमाग़ में दो या तीन दिन तक रहा होगा!

बॉबी ख़ान

अब से ढाई साल पहले की बात है। मैं, मेरी अम्मी, मेरा भाई और फुफी का लड़का (उसका नाम है नौशाद। वो दिखने में लम्बा, शरीर में थोड़ा भारी, रंग से साँवला है। उसने टी–शर्ट पहन रखी थी), मेरे तीनों भाई और तीनों बहनें, मेरी चाची से मिलने लोनी जा रहे थे। अब्बू और पप्पू मामा को छोड़ कर घर के सभी लोग थे। ईद का दूसरा दिन था। हमने जाक़िर हुसैन से खजूरी तक की बस ली। हम सब सीटों पर बैठे थे, इसलिए एक या सवा घण्टे का रास्ता आराम से पार किया।

फिर हम खजूरी स्टैंड पर उतरे और एक नंबर बस का इंतज़ार करने लगे। वहाँ एक लड़का भी खड़ा हुआ था। शायद वो भी बस का इंतज़ार कर रहा था। उस ने सफ़ेद कुर्ता–पजामा और काली टोपी पहन रखी थी, और गले में चैक का रुमाल डाल रखा था। पैरों में उस ने नागरा जूते पहन रखे थे। उसका रंग गोरा, आँखें बड़ी, क़द मीडियम था। हाथ में एक काला बैग था। अचानक वो लड़का सामने वाले स्टैंड पर जाने लगा। वहीं से टैंपो आ रहा था। लड़के और टैंपो में टक्कर हो गई।

लड़का ऐसे दूर जाकर गिरा जैसे सचिन ने छक्का मारा हो और गेंद का पता नहीं चला कि स्टेडियम में है या पब्लिक के पास। देखने वालों की भीड़ जमा हो गई। उस लड़के के सिर से ख़ून बह रहा था। ऐसा हमने सुना। हम भी उसे देखने गए मगर ज़्यादा भीड़ होने की वजह से साफ़ दिखाई नहीं दिया। बस ज़मीन पर पड़ा हुआ ख़ून और शरीर का आधा हिस्सा दिख रहा था।

इतने में हमारी अम्मी आईं और हम सबको स्टैंड पर ले गईं। हमारी बस भी आ गई थी। और हम सब बस में चढ़ गए। मगर मेरा ध्यान उसी लड़के पर था। वो ज़िन्दा है या मर गया, कुछ पता नहीं चला। आज नसरीन का लेख सुना तो वो मंज़र और उस लड़के की सूरत मेरे सामने घूमने लगे। ये हादसा मुझसे ऐसा जुड़ा हुआ है जैसे मेरे साथ कल ही गुज़रा हो...

मासूमा अंसारी

नसरीन का लेख सुनकर मेरी आँखों के सामने बस ड्राईवरों की लापरवाही की वारदातें और तस्वीरें घूम रही थीं। अकसर बसों के ड्राईवर इसी तरह से लापरवाह होते हैं।

उन्हें सिर्फ़ अपनी बस चलाने से मतलब होता है। कौन चढ़ रहा है, कौन उतर रहा है, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। अपनी मर्ज़ी हो तो आधे–आधे घण्टे तक बस रोक कर रखें, और मर्ज़ी न हो तो आधा मिनट भी नहीं रोकते। इस एक्सीडेंट का वाक़्या सुन कर मुझे मेरी बड़ी माँ के साथ हुआ एक ऐसा ही वाक़्या याद आ गया। उस वक़्त मैं उनके साथ नहीं थी। घर आकर अम्मी ने बताया था कि बस के ड्राईवर की जल्दबाज़ी की वजह से बड़ी माँ बस से उतरते हुए गिर गईं।

बात तब की है जब मेरा कज़न शब्बीर घर से भाग गया था। और बहुत ढूँढने के बाद भी कहीं नहीं मिल रहा था। घर के सभी छोटे–बड़े उसे ढूँढने की कोशिश और मिलने की दुआएँ करते रहते थे। बड़ी माँ हर दरगाह, हर मज़ार पर जाकर उसके मिलने की दुआएँ करतीं और मन्नतें माँगतीं। जुम्मे रात का दिन था। और हर हफ़्ते की तरह उस दिन भी बड़ी माँ मेरी अम्मी के साथ कोटला फ़िरोज़शाह दरगाह पर गईं थीं।

शाम के साढ़े चार बजे के क़रीब वो दुआ करके, नमाज़ और फ़तीहा पढ़ कर निकलीं। देर हो जाने की वजह से दोनों ने सोचा, "चलो बस में ही चलते हैं, जल्दी पहुँच जाएँगे"। ये सोच कर दोनों आईटीओ से आने वाली 39 नंबर में बैठ गईं। बस में ज़्यादा भीड़ नहीं थी। ज़ाकिर हुसैन से पहले आने वाली रेड लाइट पर बस रुकी तो उन्होंने सोचा कि यहीं उतर जाते हैं, और वो दोनों उतरने लगीं। मम्मी तो उतर गईं। बड़ी माँ उतर ही रही थीं कि ड्राईवर ने बस चला दी।

अचानक बस चलने की वजह से उनका बैलेंस बिगड़ गया। वो लड़खड़ा कर गिर गईं और उनका सिर फुटपाथ के पत्थर पर जाकर लगा और ख़ून बहने लगा। मगर बस–वाले ने फिर भी बस नहीं रोकी और धड़धड़ाता हुआ आगे बढ़ा ले गया। मम्मी किसी तरह उन्हें घर लाईं और पट्टी वग़ैरह करवाई। जब मुझे पता चला तो मेरा दिल किया कि मैं उस बस–वाले को ही उसकी बस के नीचे डाल दूँ। मगर मैं ऐसा नहीं कर सकती थी। बस अपने गुस्से को अपने अंदर ही दबा कर रह गई।

नसरीन

तुमने पूछा, "तुम उस हादसे को क्यों नही भुला पा रहीं थीं?"
क्योंकि वो हादसा मैंने अपनी आँखों से देखा था। अगर कोई और मुझे वो हादसा

बताता तो शायद मैं वो हादसा कुछ दिनों या कुछ महीनों बाद भूल जाती। लेकिन वो नज़ारा मैंने अपनी आँखों से देखा था, इसलिए मैं उसे भूल नहीं पा रही थी।

नीलोफ़र

मुझे नसरीन का लेख सुनकर वो नज़ारे याद आ रहे हैं जब बस चल रही होती है और लोग (ख़ासकर लड़के) भागकर बस में चढ़ते हैं। कोई तो इस वजह से चढ़ता है कि बस जल्दी चलने लगती है। मगर कुछ लोग बस रुकने पर गेट से बाहर खड़े हो जाते हैं। फिर बस चलती है, तो उसमें भागकर चढ़ते हैं। बस के कंडक्टर अकसर ऐसा करते हैं। उस टाइम मुझे ऐसा लगता है वो अपनी कुछ ज़्यादा ही बहादुरी दिखा रहे हैं। ऐसे लोगों पर मुझे बहुत गुस्सा आता है। एक ज़रा–सा स्टाइल दिखाने के लिए अपनी जान की परवाह नहीं करते।

मुझे उन लोगों का इस तरह से चढ़ना अच्छा लगता है जो पहले अपनी फ़ैमिली या उनके साथ कोई लेडी हो, उन्हें पहले चढ़ा देते हैं, फिर बाद में ख़ुद चढ़ते हैं।

आज तक मैंने ऐसा हादसा देखा तो नहीं, पर सुना ज़रूर है। मुझे नसरीन के पूरे लेख में उस इंसान की भागती हुई टाँगे और उस बस के गेट के डंडे को ना पकड़ने वाले, या पकड़ कर छूट जाने वाले वो मजबूर हाथ, और बस की रफ़्तार नज़र आ रही है।

शहाना कुरेशी

जब नसरीन अपना लेख सुना रही थी, तब मेरे कान उसकी आवाज़ तो सुन रहे थे, पर मैं आज से चार साल पहले के हादसे को अपनी आँखों में फिर से ज़िन्दा कर रही थी। चार साल पहले मैं और मेरी छोटी ख़ाला मेरी बड़ी ख़ाला से मिलने उनके घर जाफ़राबाद रहे थे। हम दोनों उनसे मिलने जा रहे थे। हमारी बस जब जाफ़राबाद के चौराहे की रैड लाइट पर पहुँची, हमने देखा पुलिस की गाड़ी खड़ी है और सारा ट्रैफ़िक रुका हुआ है। हमने बस के बाहर झाँका तो देखा, तीन लाशें सड़क पर हैं। लाशों के पास एक टू–व्हीलर खड़ा है।

हमारी बस के ड्राईवर ने पुलिस वालों से पूछा, "किसका एक्सीडेंट हुआ है?" पुलिस वाले ने बताया, "एक फ़ैमिली – पति–पत्नी और एक बच्चा। एक ट्रक ने उड़ा दिया

इन सबको"। मैं उस सड़क पर तीन लाशें देख कर सोचने लगी, "पता नहीं ये लोग कौन हैं? कहाँ से आ रहे होंगे? कहाँ जा रहे होंगे? कितनी दर्दनाक मौत हुई है इनकी। ये बच्चा! इस ने तो दुनिया में कुछ देखा नहीं होगा। इसके माँ–बाप के क्या–क्या अरमान होंगे इस बच्चे को लेकर। इनके साथ ही सब कुछ ख़त्म हो गया। रिश्तेदारों का क्या होगा, जब उन्हें इस एक्सीडेंट की ख़बर मिलेगी? जब उनकी लाशें एंब्यूलेंस में गईं तब हमारी बस चलने लगी।

लेकिन अब मुझे अपनी ख़ाला के घर जाने की ख़ुशी नहीं हो रही थी। मेरी ख़ाला का घर सिर्फ़ वहाँ से दो मिनट के रास्ते पर था। लेकिन ये दो मिनट ख़त्म नहीं हो रहे थे। मुझे उस टाइम लग रहा था कि मेरी मौत भी इस तरह हो, तो? ये सोचते हुए मेरे पूरे शरीर में सनसनी फैल गई।

ख़ाला के घर में हम ज़्यादा नहीं बैठ पाए। मेरी छोटी ख़ाला भी अपनी बातों में इस एक्सीडेंट का बार–बार ज़िक्र कर रहीं थीं। हम जब अपने घर वापस आ रहे थे, तब हमारी बस उसी रेड लाइट पर रुकी। मेरी आँखों में फिर से वही मंज़र आ गया। हम दिल्ली गेट पर उतरे। फिर वहाँ से रिक्शा पर बैठे, अपने घर आने के लिए।

जब हमारी रिक्शा इरविन अस्पताल की तरफ़ पहुँची, तब वहाँ एक और एक्सीडेंट हुआ था। लेकिन वहाँ लाश नहीं थी। एक रिक्शा टूटा हुआ था और एक बस खड़ी थी। बस की खिड़कियों के शीशों के टुकड़े उस रिक्शे के पास बिखरे पड़े थे। मैंने अपनी ख़ाला से पूछा, "ये रिक्शा और बस... कहीं यहाँ भी कोई एक्सीडेंट हुआ है?" तब रिक्शे वाले ने कहा, "एक रिक्शा चालक मारा गया है"।

मैंने एक ही दिन में चंद घण्टों के फ़ासले में दो एक्सीडेंट देखे। जब भी मैं इरविन या जाफ़राबाद जाती हूँ तो मुझे फिर से वही सब याद आ जाता है। और कभी कोई बस मेरे नज़दीक से गुज़र जाती है तो मौत का अहसास होने लगता है...

यशोदा

नसरीन का लेख सुन कर न जाने क्यों मुझे बस ड्राईवरों पर गुस्सा आने लगा है। ऐसा नहीं है कि मुझे बस ड्राईवरों पर गुस्सा नहीं आता। लेकिन आज नसरीन का लेख

सुन कर वो दबा हुआ गुस्सा बाहर आने लगा है। और बसों से जुड़े कई क़िस्से मेरे इर्द–गिर्द नाचने लगे हैं। एक बार की बात है, जब मैं पहली बार बस में चढ़ी थी। मैं और मेरे फ्रैंड स्कूल से घर जा रहे थे। हम लोगों ने सोचा कि क्यों न आज बस से घर जाया जाए। हम लोग ज़ीनत महल के गोल चक्कर से बस में चढ़ गए। बस में मैं चढ़ तो गई थी, लेकिन मेरा दिल गज़–गज़ फुट ऊपर उछल रहा था।

अगला स्टॉप हमारे उतरने का था। ड्राईवर ने बस स्टॉप पर गाड़ी रोकी। मेरी सब फ्रैंड्स उतर चुकीं थीं, और मैं उतरने के लिए पायदान पर आ खड़ी हुई थी। जैसे ही मैं बस से उतरने के लिए अपना पैर नीचे रखने वाली थी, वैसे ही बस ड्राईवर ने बस को झटका दिया और मैं बस से उतरते–उतरते पायदान पर ही जम कर रह गई।

पीछे एक बुज़ुर्ग आदमी खड़े थे। वो इस हरकत को देखते ही बोले, "अरे भई, पहले बच्ची को तो उतर जाने दो"। मैंने पीछे मुड़कर ड्राईवर को देखा, तो वो मुछों वाला बंदर मुझे ही देख कर मुस्कुरा रहा था। उसने बहुत गहरी नज़र मुझ पर डाल रखी थी। मुझे उससे डर महसूस होने लगा था। मैं फ़ौरन बस से उतर गई।

मैं सब के साथ होते हुए भी सबसे कटी–कटी चल रही थी। मैं मन ही मन उसे कोस रही थी, "साला, कुत्ता, कमीना, गंदी ज़ेहनियत का इंसान। भोले नाथ जी पर तो ताज़ा–ताज़ा फूल चढ़ाता है, और आँखों में बदमाशियाँ लिए फिरता है"। मैं ये सब बड़बड़ाती हुई रोड क्रॉस कर रही थी, कि इतने में एक गाड़ी झन्न् से मेरे पास से होकर गुज़री। और वो हादसा भी उस आवाज़ की तरह मेरे से दूर होता चला गया।

ऐसा अब भी कई बार मेरे साथ होता है, मगर वो फ़ीलिंग नहीं होती जो पहले सफ़र में हुई थी।

क्या बस ड्राईवर बस को अपनी ज़ाती सम्पत्ति समझते हैं?
बस की वजह से पब्लिक होती है, या पब्लिक की वजह से बस होती है?
हम जिस चीज़ का किराया दे रहे हैं, उस चीज़ पर चाहते हुए भी धौंस नहीं जमा सकते। क्यों?

हम टिकट लेकर अपने चढ़ने की संतुष्टि करते हैं, या कंडक्टर हमें टिकट देकर अपने होने की संतुष्टि करते हैं?

मैं नहीं समझ पाती हूँ इन बातों को, पर चाहती हूँ समझाना।
क्या इसमें मेरी कोई मदद कर सकता है?

शमशेर अली

इस लेख को सुन कर ऐसा लग रहा है कि जैसे मैं ड्राईवर हूँ, और मैं दोनों तरफ़ को देख कर गाड़ी चला रहा हूँ। शीशे पर मेरी नज़र है। और मैं रास्ते पर भी देख रहा हूँ, जो बस में बैठे मुसाफ़िरों को उनकी मंज़िल तक पहुँचाएगा। मगर मेरा ध्यान मुसाफ़िरों पर नहीं है। और मुझे इंतज़ार है मंज़िल का।

अगर नसरीन के भाई के साथ ऐसा होता और उसकी अम्मी को नहीं मालूम होता, तो नसरीन क्या करती? जो कहा है, वो? या कुछ और? या कुछ और, या कुछ और!
"कुछ–कुछ" क्या? और फिर क्या होगा दोनों के बीच?
क्या छूट सकता है, नसरीन?

फ़ासला भीड़ में, ऊपर से नीचे

अज़्रा तबस्सुम

लगभग पच्चीस फुट की ऊँचाई से मैंने नीचे देखा। बहुत भीड़ थी। लोग आ रहे थे, जा रहे थे। लग रहा था इतनी भीड़ में चलने के बावजूद भी उनके चेहरों पर कोई फ़िक्र ही न थी। ऊपर से देखने पर लग रहा था कि उनके पैरों के नीचे ज़मीन है ही नहीं। आस–पास का माहौल बहुत अच्छी तरह से आँखों में उतर रहा था। बहुत–सी दुकानें थीं, और हर दुकान पर भीड़ थी।

मैं सोच रही थी, "लोग इतनी भीड़ में शॉपिंग कैसे कर रहे हैं?" अनगिनत लोग थे। जितने कम हो रहे थे, उससे कहीं ज़्यादा बढ़ रहे थे। कभी लगता जैसे मधुमक्खियों

का छत्ता है। तो कभी लगता जैसे ज़मीन पर कीड़े रेंग रहे हैं। कुछ भी ग़ौर से देख पाना मुश्किल हो रहा था। लग रहा था इनके बीच बिलकुल फ़ासला नहीं है। अगर हम बीच से निकलना चाहें, तो शायद निकल नहीं पाएँगे। कभी–कभी इस भीड़ में न होते हुए भी हम अपने आपको इस में महसूस करते हैं।

मन में अजीब तरह के ख़ौफ़ करवट बदलने लगते हैं। वो करवटें शायद हमें उस भीड़ में होने के पहलू दिखाना चाहती हैं। लगता है जैसे वो हमें उस भीड़ से बचाना चाहती हैं। कई आवाज़ें होती हैं, पर उन आवाज़ों में से एक भी आवाज़ कानों तक ठीक से पहुँच नहीं पाती। लोग ऐसे दुकानों के इर्द–गिर्द नाचते हैं जैसे सामान फ़्री मिल रहा हो।

आमने सामने: नीचे से खड़े होकर देखने में आगे के पूरे–पूरे चेहरे देखने को मिलते हैं। कई तरह के लोगों के हुलिए दिखते हैं, जो कि हम ऊपर से नहीं देख पाते। हर एक चेहरे का एक्सप्रेशन दिखता है। ऐसा लगता है जैसे कोई कुछ तलाश कर रहा है। कभी अनजानी, तो कभी अपनी–सी तलाश की झलक लगती है। आँखें चारों तरफ़ नाचती हैं। गैप ही पता नहीं चलता।

लोग पैर कहाँ रख रहे हैं? कुछ चेहरों पर मुस्कुराहट होती है तो लगता है जैसे उन्हें कोई दिक्कत नहीं है इस भीड़ में चलते हुए। कभी–कभी लगता जैसे ये लोग कुछ ख़रीदने नहीं, सिर्फ़ घूमने आए हों। देखो तो पता चलता है कि वे लोग एक–दूसरे के क़दम से क़दम मिलाकर चल रहे होते हैं। उन में से दो–तीन लोग जब हमारे पास से निकलते हैं तो हमें लगता है जैसे वे लोग यमदूत बने हुए आ रहे हैं, हमें उस भीड़ में, उस खिचड़ी में ले जाने के लिए। हम उन्हें एक टक लगाए देखते रहते हैं, जब तक वो चेहरे हमें पीछे न छोड़ दें।

बीच में: उस खचपच खिचड़ी में जगह न होने के बावजूद भी कई लोगों के आने–जाने के लिए जगह बन ही जाती है। उस भीड़ में जाकर ही पता चलता है कि क्या मुश्किल है, क्या आसान। आस–पास के माहौल को कुछ–कुछ अनदेखा करते हैं। अगर कोई चीज़ आकर्षित भी करती है, तो मन कुछ खिंचाव महसूस करता है, क्योंकि मन इतनी भीड़ में तनहाई महसूस करता है।

घूँघट में आग और ख़ुशी

यशोदा

नौ जून, सोमवार। दक्षिणपुरी की गलियों में से निकलते हुए एक शरारत करने की सूझी। मैंने शहाना से कहा, "मेरा मन कर रहा है कि मैं अपना मुँह ढक कर चलूँ, यानी घूँघट कर लूँ, जो कि औरतों पर ज़बर्दस्ती लागू किया जाता है"। मैंने अपना दुपट्टा ठीक करते हुए लम्बा–सा घूँघट कर लिया। अब मेरा चेहरा कोई नहीं देख पा रहा था। मगर मैं सबके चेहरे आसानी के देख पा रही थी। शहाना ने पैंट, टी–शर्ट पहने हुए थे, और मैंने स्टायलिश पजामा, जिसकी मोरियाँ बहुत चौड़ी थीं, और नीचे पौंचों पर कढ़ाई हुई थी।

हम अपनी मस्ती में गली में से निकलते हुए बाहर सड़क पर आ रहे थे। गली में बैठी कुछ औरतें हमें ही ध्यान से देख रहीं थीं। इतने ध्यान से पहले कभी नहीं देखा इन्होंने हमें! मैंने दिल में सोचा, "क्या आज हम ने कोई अनोखा काम कर दिया है?"

हम बातें करते हुए बाहर बस स्टैण्ड पर आ गए। और हम ने आरटीवी बस ली। लेकिन अब भी मेरा घूँघट ज्यों का त्यों था। मैंने अपने घूँघट को नीचे या ऊपर सरकने नहीं दिया था। हम दोनों आरटीवी की लम्बी सीट पर बैठ गए। उसमें आदमी ज़्यादा, और औरतें कम थीं। मेरे हिसाब से दो ही औरतें थीं।

उस में बैठे सब लोगों के देखने का केन्द्र मैं ही बनी हुई थी। कोई मुझे नहीं देख पा रहा था, मगर मैं बस में बैठे सब लोगों को बड़े ग़ौर से देख रही थी। उनकी नज़रों में कुछ खोजने की उत्सुकता थी। शायद मेरे फ़ेस को, जो सुरमई कॉटन के दुपट्टे में कहीं खो गया था। ये सब शायद तब मुमकिन न हो पाता जब मैं बिना घूँघट के बस में चढ़ती।

मेरे ठीक सामने दो आदमी बैठे हुए थे, उम्र पच्चीस से छब्बीस साल होगी। वो बार–बार इधर–उधर सिर घुमाते और फिर मेरी तरफ़ देखने लगते। वो बड़ी हैरानी से मेरे हाथ–पैरों की तरफ़ भी देख रहे थे। उनमें एक अलग–सी बेचैनी थी। लेकिन मेरे लिए ये एक मज़ा था, जिसमें मस्ती के अलावा और कुछ नहीं था। और एक अनजानी ख़ुशी,

जो मेरे अंदर भर–सी गई थी। हम अपने स्टैण्ड, यानी पुष्प भवन पर उतर गए। बस में बैठे लोगों की नज़रें अभी तक मुझ से नहीं हटी थीं। दो मिनट बाद बस आगे चली गई।

उन्हें एक अजनबी चीज़ को देखने की ख़्वाहिश थी!

बस के जाने के बाद मैंने अपना घूँघट हटा दिया, और मैं शहाना की तरफ़ देखते हुए हँसने लगी। मैंने कहा, "कितना मज़ा आ रहा है"।

एक अलग ही आनंद है अजनबियों के साथ खेलने में।

मैंने अपने मन में सोचा, "उस बस में बैठे लोगों के मन में कुछ न कुछ ज़रूर चल रहा होगा – कि शादी–शुदा है या नहीं? इतनी मॉडर्न होने के बावजूद भी पल्ला क्यों किया था? हाथों में चूड़ी नहीं, पैरों में चुटकी नहीं, फिर भी चेहरे पर पल्ला क्यों? कहीं चेहरे पर बदनुमा दाग़ तो नहीं?"

आज मुझे बहुत मज़ा आया, क्योंकि आज मैंने कुछ नहीं सोचा। मैंने सिर्फ़ दूसरों को सोचने पर मजबूर किया। अपने वजूद के माध्यम से मैंने उनके मन में सवाल उठाए, और जवाब भी तलाशने के लिए उन्हीं पर छोड़ दिया। ख़ैर, ऐसा तो मैं सोच रही हूँ। हो सकता है उन लोगों ने कुछ भी न सोचा हो।

घर आकर मैंने ठंडा पानी पिया और ये सब सोच कर ख़ुद मुस्कुराती रही। मुझे मुस्कुराता देख लक्ष्मी बोली, "क्या हुआ? कहाँ खोई–खोई मुस्कुरा रही है?"

मैंने लक्ष्मी को पूरा क़िस्सा बता डाला। मुझे यक़ीन था वो हँसेगी, मगर वो ज़ोर से हँसने की बजाय मुझे ग़ौर से देखने लगी। फिर बोली, "तेरे लिए तो ये एक मज़ाक है। लेकिन तेरे इस मज़ाक से दूसरों के घरों में आग लग सकती है"।

मैंने उससे कहा, "क्यों?" मैं हैरान हो गई थी उसकी ये बात सुनकर। वो मुझे देखते हुए बोली, "अब ज़रूरी तो नहीं कि वो सब कुँआरे हों। उनमें से कितने ही शादी–शुदा

होंगे। बहुतों की पत्नियाँ पल्ला करती होंगी, और बहुतों की पल्ला करने में आना–कानी। जिसे ये सब पसंद नहीं होगा, वो अपनी पत्नियों से ये नहीं कहेंगे, 'जब वो बाहर निकलने वाली मॉडर्न लड़की पल्ला कर सकती है, तो तू घर में रहकर पल्ला क्यों नहीं कर सकती'? तब वो नहीं कहेंगी, 'तुम बसों में सफ़र करते हो, या दूसरों की पत्नियों को ताड़ते हो'? वो अपनी बात पर अटल रहेगा, और वो अपनी। और तू वहाँ न होते हुए भी उन लोगों की लड़ाई में मौजूद रहेगी"।

मैंने ग़ौर से उसकी तरफ़ देखते हुए कहा, "मगर ऐसा होगा क्यों?" उसने गिलास उठाते हुए कहा, "लेकिन ऐसा हुआ तो?"

वो सामने कमरे में बर्तन धोने चली गई। बात इतनी बड़ी भी नहीं थी, लेकिन अब मुझे गिल्टी फ़ील हो रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे राई का पहाड़ बन चुका हो। मेरे लिए तो ये मज़ाकिया चुटकुला था, जिसे मैं भूल चुकी थी। मगर ये नहीं सोचा कि इसकी दूसरों पर क्या छाप होगी।